

स्मरण

राजनीतिक चेतना के गज़लकार दुष्यंत कुमार

राजेंद्र वर्मा

'गज़ल' प्रेम के विविध आयामों को प्रस्तुत करने की छांदस अभिव्यक्ति की विधा है, लेकिन जब उससे पहले 'हिंदी' लग जाता है, यानी जब उसे 'हिंदी गज़ल' कहा जाता है तो उसकी शिनाख्त के क्रम में हमारे दिमाग में पहला नाम दुष्यंत कुमार का कौंधता है। 1 सितम्बर 1933 में जन्मे दुष्यंत कुमार ने मात्र 42 वर्षों के जीवन में, एक कंठ विषपायी (काव्य-नाटक), और मसीहा मर गया (नाटक), सूर्य का स्वागत, आवाज़ों के घेरे, जलते हुए वन का वसंत (काव्य-संग्रह), छोटे-छोटे सवाल, आँगन में एक वृक्ष, दुहरी ज़िंदगी (उपन्यास), मन के कोण (लघुकथाएँ) आदि कृतियाँ साहित्यिक जगत को दी, पर उनके गज़ल-संग्रह, 'साये में धूप' (1975 में प्रकाशित) ने उन्हें अपार लोकप्रियता प्रदान की। इस संग्रह में उन्होंने आम आदमी की पीड़ा को राजनीतिक संदर्भों



में जिस शिद्धत से व्यक्त किया, वह आज भी प्रासंगिक है। इस संग्रह में केवल 52 गज़लें हैं जिनमें न केवल हिंदी गज़ल की ज़मीन देखी जा सकती है, बल्कि वे सत्ता के छल-छद्म और आम आदमी की व्यथा, नाराज़गी और क्रांतिकारी सोच का प्रतिनिधित्व करती हैं। भाषा-शैली की दृष्टि से भी यह संग्रह अनुपम है।

दुष्यंत से पहले यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चंद्र, प्रेमघन, सनेही, प्रसाद, निराला, चिरंजीव, रंग, नीरज, त्यागी आदि हिंदी गज़ल को यथाशक्ति समृद्ध कर चुके थे, पर दुष्यंत की गज़लों ने आम जन की उस व्यथा को वाणी दे दी जो गज़ल की दुनिया से बाहर थी। गज़ल के प्रति अपने समर्पण और प्रतिबद्धता को वे कुछ इस प्रकार व्यक्त करते हैं: मैं जिसे ओढ़ता-बिछाता हूँ/वो गज़ल आपको सुनाता हूँ।

वे ज़मीनी सचाई से इतर कोरी कलात्मक अभिव्यक्ति के पक्षधर न थे। तभी तो उन्होंने कहा : मैं बेपनाह अंधेरो को सुबह कैसे कहूँ/मैं इन नज़ारों का अंधा तमाशबीन नहीं। गज़ल को वे किसी हथियार की तरह पीड़ित के पक्ष में इस्तेमाल

करते रहे। उनका साफ़ कहना था : मुझमें रहते हैं करोड़ों लोग, चुप कैसे रहूँ/ हर गज़ल अब सल्तनत के नाम इक बयान है।...

वे इमर्जेंसी के दौर ने संवेदनशील रचनाकारों को भले ही तोड़ दिया था, पर उनकी रचनाधर्मिता की तीव्रता को नहीं रोक सकी। दुष्यंत कुमार की गज़लें उस दौर को पूरे दम-खम से हमारे सामने लाती हैं और हममें अन्याय के विरोध में खड़े होने की ताकत देती हैं। उस दौर में जहाँ अभिव्यक्ति पर कड़ा पहरा था, दुष्यंत अद्वितीय भाषा-शैली से चुप्पी को यों तोड़ते हैं—

मत कहो आकाश में कुहरा घना है,
यह किसी की व्यक्तिगत आलोचना है।

सत्ता का चरित्र किसी से छिपा नहीं है, पर उस पर प्रहार कैसे किया जाए- यह सवाल बड़ा है। दुष्यंत ने बहुत सधे हुए अन्दाज़ में इसको प्रस्तुत किया। उच्छ्वास और व्यंग्य दोनों का अद्भुत मिश्रण देखिए। इस मतले में उन्होंने उर्दू के 'शह' को हिंदी में बोले जाने वाले 'शहर' की तरह जानबूझकर प्रयुक्त कर हिंदी कवियों को गज़ल की भाषा प्रदान की, हालांकि उर्दू के उस्ताद आज भी इसकी आलोचना करते नहीं थकते—

कहाँ तो तय था चिरागां हरेक घर के लिए,

कहाँ चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।

इस क्रम में उनके कुछ और मुकम्मल शेर देखिए जो व्यवस्था को आईना दिखाते हैं—

वो आदमी नहीं है मुकम्मल बयान है,
माथे पे उसके चोट का गहरा निशान है ।

कल नुमाइश में मिला वो चीथड़े पहने हुए,
मैंने पूछा नाम तो बोला कि हिंदुस्तान है ।

अब किसी को भी नज़र आती नहीं कोई दरार,
घर की हर दीवार पर चिपके हैं इतने इश्तहार ।

दुख नहीं कोई कि अब उपलब्धियों के नाम पर,
और कुछ हो या न हो, आकाश-सी छाती तो है ।

राजनीतिक परिवर्तन को लक्षित उनके ये शेर आज व्यंजना के उत्तम उदाहरण बन चुके हैं—

अब तो इस तालाब का पानी बदल दो,
ये कँवल के फूल अब मुरझाने लगे हैं ।

यहाँ दरख्तों के साये में धूप लगती है,
चलो यहाँ से चलें और उम्र-भर के लिए ।

हो गयी है पीर पर्वत-सी पिघलनी चाहिए,
इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए ।

सामाजिक यथार्थ हो या धार्मिक पाखंड, दोनों की अभिव्यक्ति उनके यहाँ बिल्कुल नये ढंग से होती है और वह भी गज़ल जैसी नाजुक विधा में इतनी प्रभावशाली कि वे देश के सभी वर्गों के चहेते रचनाकार बन जाते हैं—

धीरे-धीरे भीग रही हैं सारी ईंटे पानी में,
इनको क्या मालूम कि आगे चलकर इनका क्या होगा?

इस शहर में वो कोई बारात हो या वारदात,
अब किसी भी बात पर खुलती नहीं हैं खिड़कियाँ ।

यहाँ तो सिर्फ़ गूँगे और बहरे लोग बसते हैं,
खुदा जाने यहाँ पर किस तरह जलसा हुआ होगा ।

इस सिरे से उस सिरे तक सब शरीके-जुर्म हैं,
आदमी या तो ज़मानत पर रिहा है या फ़रार ।

गज़ब है सच को सच कहते नहीं वो,
कुरानो-उपनिषद खोले हुए हैं ।

समाज के पढ़े-लिखे वर्ग को यथार्थ पहचानने तथा सत्ता-व्यवस्था से कोई उम्मीद न रखने की बात करते हैं। वे जानते हैं कि परिवर्तन तभी सम्भव है जब जनता स्वयं अपना सही रास्ता तलाशे—

तुम्हारे पाँवों के नीचे कोई ज़मीन नहीं,

कमाल ये है कि फिर भी तुम्हें यक़ीन नहीं ।

तुझे क्रसम है खुदी को बहुत हलाक न कर,
तू इस मशीन का पुर्जा है, मशीन नहीं ।

आज सड़कों पर लिखे हैं सैकड़ों नारे न देख,
घर अंधेरा देख, तू आकाश के तारे न देख ।

मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीने में सही,
हो कहीं भी आग, लेकिन आग जलनी चाहिए ।

इन ठिठुरती उँगलियों को इस लपट पर सेंक लो,
धूप अब घर की किसी दीवार पर होगी नहीं ।

पक गयी हैं आदतें बातों से सर होगी नहीं,
कोई हंगामा करो, ऐसे गुज़र होगी नहीं ।

मगर वे आगाह भी करते हैं कि हंगामा केवल हंगामे तक सीमित न रह जाए—

सिर्फ़ हंगामा खड़ा करना मेरा मक़सद नहीं,
मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए ।

हर सड़क पर, हर गली में, हर नगर, हर गाँव में,
हाथ लहराते हुए हर लाश चलनी चाहिए ।

यथार्थ के अंकन में वे तीखे अवश्य हैं, पर उनका रवैया आशावादी हैं। वे जानते हैं कि आज के माहौल में क्रांति के अंगारे तलाश करना बेमानी है, चिनगारी भी कम नहीं है—

राख कितनी राख है चारों तरफ़ बिखरी हुई,
राख में चिनगारियाँ ही देख, अंगारे न देख ।

इस नदी की धार में ठंडी हवा आती तो है,
नाव जर्जर ही सही, लहरों से टकराती तो है।

होने लगी है जिस्म में जुम्बिश तो देखिए,
इस परकटे परिदे की कोशिश तो देखिए ।

कैसे आकाश में सूराख नहीं हो सकता,
एक पत्थर तो तबीयत से उछालो यारो !

इस प्रकार, हम देखते हैं कि अभिव्यक्ति की मारक क्षमता के चलते उनकी गज़लें आज भी हमें अँधेरे में सूरज की किरन बनकर आश्वस्त करती हैं। संघर्ष और परिवर्तन उनकी गज़लों का मुख्य स्वर है। इसे संयोग कहें या दुर्योग कि आज भी स्थितियाँ इतनी विषम हैं कि उनकी गज़लों की प्रासंगिकता और उद्धरणीयता दिनोदिन बढ़ती जाती है। यह उनकी गज़लों की ताक़त ही है कि वे आज भी हिंदी की मानक गज़लें बनी हुई हैं। भाषा की दृष्टि से भी उन्होंने हिंदी और उर्दू शब्दों से सजी ऐसी भाषा विकसित की कि शब्दयोजना के हिसाब से उनकी गज़लें हिंदी गज़ल अथवा उर्दू गज़ल में नहीं बाँटी जा सकती, तथापि हिंदी के मुहावरे और गज़ल के परम्परागत कथ्य के विपरीत नवीन कथ्य और शैली के आधार पर उन्होंने गज़ल की जो ज़मीन तैयार की, उस पर न केवल हिंदी के कवि, बल्कि उर्दू के प्रख्यात गज़लकार भी उनकी बनायी ज़मीन पर गज़ल-रचना करना चाहते हैं। ऐसे विरल रचनाकार को नमन !